बया

साहित्य, संस्कृति और विचार का त्रैमासिक
पूर्णांक : 39 वर्ष : 13 अप्रैल-जून, 2018

हिंदी सिनेमा में हाशिये का समाज : 1

हिंदी सिनेमा में किसान-मजदूर

6.
नहीं बदली किसान, मजदूरों की तस्वीर
इंशमधु तलवार

8.
हिंदी सिनेमा में किसान और श्रमिक समाज
प्रमोद कुमार बर्णवाल

15.
किसान, मौत और मसाला!
श्याम माथुर

हिंदी सिनेमा में दलित और अन्य पिछड़े वर्ग

17.
हाथियों के बीच चिटियाँ : हिंदी सिनेमा में दलित
नारायण सिंह

23.
हिंदी सिनेमा में दलित समाज
नवल किशोर शर्मा

26.
हाशिये का सिनेमा और हाशिये की सच्चाई
प्रेमचंद गांधी

29.
अस्मत और अस्मिता से मुठभेड़ करता वक्त
आशीष कुमार

32.
भारतीय सिनेमा में दलित-आदिवासी और पिछड़े
सुरेश कुमार निराला

सा रे गा मा

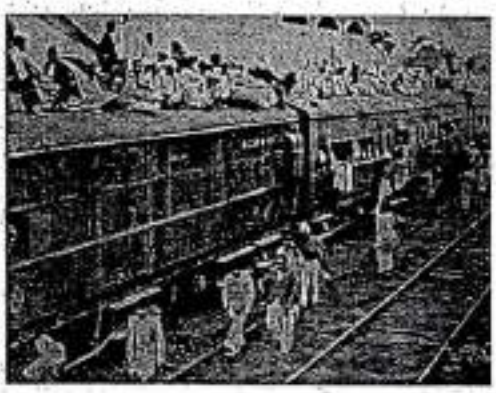

■ बया की पाती

हिंदी सिनेमा में हाशिये का समाज

हाशिये के समाज की आवाज़ जिस सीमा तक साहित्य में जगह पायी है, उस तरह हिंदी सिनेमा में इसके लिए गुंजाइश अभी तक नहीं बन पायी है। लेकिन एक ऐसी शुरुआत हो चुकी है कि अरसे तक इन स्वरों को दबा पाना अब संभव नहीं लगता। सिनेमा का माध्यम बड़ी पूँजी का खेल ज़रूर है इसलिए यहाँ यह सिद्धांत भी आमफ़हम है कि जो बिकता है वही बनाया जाता है, लेकिन इसी के साथ यह भी सच है कि यह सामूहिक कला है और जनतांत्रिक होना/दिखना इसकी प्राथमिक माँग है। ऐसे में यहाँ हरेक वर्ग, हरेक समुदाय, हरेक अस्मिता के लिए कम या ज्यादा कुछ-न-कुछ करने/कहने की गुंजाइश बनती है। जिसको समाज में उचित स्थान हासिल करने के लिए संघर्ष करना पड़ रहा है, उसको कला माध्यमों में भी संघर्ष करना बड़ी बात नहीं। दलित, पिछड़े, आदिवासी, अल्पसंख्यक, स्त्री, थर्ड जेंडर आदि समुदाय से निकले लोग जब इस माध्यम से जुड़ गए हैं तो उनकी आवाज़ भी इस माध्यम में जगह पाएगी ही। यह दीगर बात कि उसको अपनी अस्मिता की पहचान के लिए कठिन संघर्ष करना पड़ा है, पड़ रहा है, अभी और करना पड़ेगा।

एक लंबे अरसे तक हिंदी सिनेमा में स्त्री की एक ख़ास तरह की आदर्श छवि परोसी जाती रही। विद्रोही, स्वाभिमानी, अलग छवि की (तथाकथित 'आदर्श महिला' की छवि को चुनौती देने वाली) बदनाम महिलाओं के लिए अरसे तक वहाँ जगह नहीं थी। आधुनिकता के दौर में स्त्री की पैकेजिंग कुछ इस तरह की जाने लगी कि वह फ़िल्म को बिकाऊ तो बनाए लेकिन स्त्री के हक़-हकूक की बात न करे। बराबरी की बात को तर्कतः स्वीकारने के बाद भी स्त्री छवि को वस्तु के रूप में प्रस्तुत करने की बीमारी ख़त्म

भारतीय सिनेमा का स्त्री पक्ष

गौरी त्रिपाठी

असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी एवं अन्य भारतीय भाषा विभाग, डॉ शकुंतला मिश्रा राष्ट्रीय पुनर्वास वि.वि. लखनऊ

सिनेमा हमारे जीवन का ऐसा महत्त्वपूर्ण स्तंभ बन चुका है जिसमें समाज की बुनियादी तथा आम बातें अनिवार्य बनती जा रही हैं। हम सिनेमा में अपने जीवन का सब कुछ देख लेना चाहते हैं, मूर्त और अमूर्त। जो कुछ हमारे जीवन में नहीं भी होता है, उसकी भी इच्छाएँ, आकांक्षाएँ यहाँ जगह बना लेती हैं। यह हमें समझ विकसित करने और जीने के तरीके सिखाने के साथ-साथ हमारे मन को आनंदित भी करती है। हमारा भारतीय सिनेमा तमाम उतार-चढ़ाव लिए सौ वर्ष सफ़र पार कर चुका है। 'आलम आरा', 'राजा हरिश्चंद्र' से शुरू हुई यह सकुचाते सकुचाते 'बाहुबली' और 'कृष' तक पहुँच गई है। वह श्वेत श्याम, रंगीन से होता हुआ डिजिटल युग तक आ गया है। सिनेमा के इस सफ़र को स्त्री केंद्रित नजरिए से देखें तो पाएँगे कि यह कई चरणों से होता हुआ लगातार आगे बढ़ रहा है। यह आगे बढ़ना स्त्री के प्रति बहुत उदारवादी होने से ना लिया जाए बल्कि स्त्री को अब कई कोणों से भारतीय सिनेमा देख रहा है। भारतीय सिनेमा की 'मदर इंडिया' अब 'क्वीन' बन चुकी है। इस 'क्वीन' तक के सफ़र में स्त्री ने 'चाँदनी', 'अछूत कन्या' और 'मृत्युदंड' का दंश झेला है। भारतीय सिनेमा ने अलग-अलग दौर में स्त्री प्रश्नों और स्त्री-मुक्ति के मुहावरों को दर्ज किया है। भारतीय स्त्री को एक अलग पहचान दिलाने में सिनेमा की भूमिका सराहनीय है। सिनेमा स्त्रियों के प्रति उदार हुआ है। स्त्री के चरित्र को लेकर समकालीन समाज में फैली सामंती धारणाओं को सिनेमा ने बदला है। भारतीय सिनेमा स्त्री को कई रूपों में चित्रित कर अपने सामाजिक सरोकारों को और आगे बढ़ा रहा है। सामाजिक व्यवस्था और पारिवारिक ढांचे से बाहर निकलने वाली स्त्रियाँ आत्म सम्मान के साथ अपनी जिंदगी में अग्रसर हो रही हैं। यह बहुत कुछ संभव हो पाया है दिग्गज निर्देशकों की वजह से। सत्यजीत रे, महबूब खान, श्याम बेनेगल, विमल शर्मा, ऋषिकेश मुखर्जी, सुधीर मिश्रा जैसे कई नाम हैं जिन्होंने स्त्रियों की पारंपरिक छवि से हटकर उनके स्वाभाविक रूप को रचा है।

आज के दौर में भी प्रकाश झा, इम्तियाज अली, मधुर भंडारकर, अनुराग कश्यप, महेश भट्ट, अविनाश दास, संजय लीला भंसाली जैसे फिल्म निर्देशक निरंतर इस परंपरा को आगे बढ़ा रहे हैं। 70-80 के दशकों में स्त्री का यथार्थ पहलू देखना हो तो हमें याद करना चाहिए 'अंकुर', 'निशांत', 'भूमिका', 'बाजार', 'मंडी', 'जुनून', 'कलयुग', 'आरोहण' आदि फिल्में। इन फ़िल्मों में स्त्री को विविध रूप में दिखाने की कोशिश की गई है। जहाँ व्यावसायिक सिनेमा में स्त्री को एक बिकाऊ वस्तु के रूप में प्रस्तुत किया जाता है वही सार्थक सिनेमा में स्त्री जीवन की सच्चाइयाँ सामने आती हैं। स्त्री फ़िल्म निर्देशिकाएँ भी स्त्री की छवि को निरंतर परिष्कृत कर रही हैं। इनमें प्रमुख नाम हैं—अपर्णा सेन, दीपा मेहता, मीरा नायर, साईं परांजपे, कल्पना लाजमी, गुरिंदर चड्ढा, जोया अख्तर, अनुषा रिजवी इत्यादि। इन सबने स्त्री जीवन के संघर्षों, अंतर्द्वंद्वों और मुक्ति से संबंधित अनेक सवालों को गहराई से उठाया है। भारतीय सिनेमा स्त्री की ऐसी छवि गढ़ रहा है जहाँ स्त्री सिर्फ़ सेक्स सिंबल नहीं है, ना ही प्रेम करने की गूंगी गुड़िया, बल्कि स्वतंत्रता और स्वाभिमान के साथ जी रही एक जिम्मेदार नागरिक है। स्त्रियों के लिए अब जीवन की परिभाषा पुरुष या उसके इर्द-गिर्द नहीं घूमती, वह स्वयं अपने जीवन की क्वीन हैं। निश्चय ही यह सब कुछ समाज में आए बदलाव का प्रमाण है।

भारतीय सिनेमा बदला है, बहुत बदला है, इसके बावजूद सिनेमा जीवन के सभी पक्षों पर स्त्री के साथ नहीं खड़ा है उदाहरण के लिए 'पिंक' फ़िल्म। इस फ़िल्म की लड़कियों के साथ तो सिनेमा है लेकिन उनकी उन्मुक्तता के लिए ज्यादा अवसर नहीं है। वे लड़कियाँ समाज में आसानी से स्वीकार्य नहीं हैं। 70- 80 का दशक स्त्री केंद्रित फ़िल्मों का रहा है जहाँ स्त्री समस्या पर ध्यान ज्यादा था फिर चाहे दहेज, शिक्षा या स्त्री-बाज़ार का मसला हो। इस संदर्भ में हम 'भूमिका', 'मंडी' और 'बाज़ार' का नाम ले सकते हैं। ये सभी फ़िल्में गंभीर रूप से कोई प्रतिरोध नहीं तय करती दिखती हैं। जो है सिर्फ़ वही दिखाना तो सिनेमा का उद्देश्य नहीं है। भारतीय सिनेमा जिस प्रकार कई चरणों में विकसित और प्रगतिशील हो रहा है, 'क्वीन' और 'सोनाटा' जैसी फ़िल्में बन तो रही हैं लेकिन जैसे यह छवि लोगों को अखरती है। उन्मुक्त स्त्री को कौन सा समाज बर्दाश्त करेगा? इसके बदले किचन में हींग की गंध में लिपटी स्त्री ज्यादा जँचती है। पिछले वर्ष 'की एंड का' फ़िल्म आई। तीन घंटे फ़िल्म को बर्दाश्त कर लिया गया, बहुत है। हलांकि स्वयं स्त्रियों को पुरुष की यह घरेलू छवि अखरती है। हम असहज महसूस करने लगते हैं। फ़िल्में समाज की मंशा को अच्छे से भाँप लेती हैं, पति भले ही कुछ ना करें, घर पर रहे लेकिन इसका यह अर्थ यह कैसे हो गया कि वह घर संभालेगा?

हालाँकि फ़िल्में बहुत कुछ स्त्री छवि को पर्दे पर उभारने तो लगीं हैं। स्वरा भास्कर, कंगना रनौत, राधिका आप्टे, रिचा चड्ढा, कल्कि कोचलिन, तापसी पन्नू जैसी सशक्त अभिनेत्रियाँ भी स्त्री मुक्ति के स्वर को पर्दे पर जीवंत कर दे रही हैं, यह और बात है स्त्री, सिनेमा में ज्यादातर शरीर तक ही केंद्रित रहती है। बुद्धिमत्ता और आज़ादी की भी बात होती है लेकिन पर्दे पर उसे बर्दाश्त करने में समाज को दिक्कत है। सिनेमा की प्रगतिशील स्त्री व्यावहारिक जिंदगी में नकार दी जाती है क्योंकि स्त्री जीवन फ़िल्मों से कहीं ज्यादा उबड़-खाबड़ होता है। सिनेमा की स्त्री कहीं सशक्त होती है